© INNOVATIVE RESEARCH THOUGHTS | Refereed | Peer Reviewed | Indexed
ISSN : 2454 – 308X | Volume : 04 , Issue : 05 | May 2018

"ऋग्वेद प्रातिशाख्य व साम्प्रतिक परिप्रेक्ष्य में उसका महत्त्व"

सुरेश

सारांश

शिक्षा सिद्धान्तों का व्यवस्थित व वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण करने वाले बैदिक-व्याकरणपरक ग्रन्थों को प्रातिशाख्य नाम से व्यवहृत किया जाता है। जब वैदिक संस्कत का रूपान्तर लौकिक संस्कत में होने लगा

तब मुलवैदिक उच्चारण सम्बन्धित सिद्धान्तों के रक्षण हेतु प्रातिशाख्य ग्रन्थां का प्राकट्य हुआ | उच्चारण - प्रक्रिया , उच्चारण स्थान, उच्चारणावयव मन्त्रोच्चारण को विधिन्न अवस्थाएँ अक्षर , उनका आधार, ध्वनियां का वर्गीकरण, स्वराधात, शुद्धपाठ के नियम, हस्तसंचालन, क्रमपाठ आदि विषयों का सविस्तृत विवेचन प्रातिशाख्य ग्रन्थों में उपलब्ध होता है आज धी भाषा वैज्ञानिकों के लिए मूलग्रन्थ के रूप में प्रातिशाख्यों

का विशेष महत्व है । "द्वि-भाषिया-यन्त्र" के प्रयोग में विशेषत: ऋग्वेद-प्रातिशाख्य-वर्णित सिद्धान्तों का अनुगमन आज भी देखा जाता है। विभिन्न संस्थानों में भाषा कं शुद्धोच्चारण हेतु संस्थापित विभिन्न भाषा प्रयोगशलाओं में ऋग्वेद-प्रातिशाख्य के नियमों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है रिकॉर्डिंग आदि सन्दर्भों में भी प्रातिशाख्यों का महत्त्व कम नहीं आँका जा सकता । संक्षेपत: कहा जा सकता हैं कि आधुनिक युग 'में भी प्राचीन प्रातिशाख्यों की अवहेलना नहीं की जा सकती ।

विषय प्रवेश

विश्वेतिहास के पृष्ठ पलट कर देखते है ता साहित्य क्षत्र में 'ऋग्वेद' प्रथम स्पन्द के रूप में निर्विवाद सर्वमान्य है । तपःपूत ऋषियों "प्रतिशासं भव प्रातिशाख्यम् " के अन्त:करण से नि:सूत ज्ञानराशि कालगत परिवर्तन के अनुरूप चार संहिताओं के रूप में परिणत हुई । ऋगादि चार संहिताओं का अध्ययन ध्यापन मोखिक-परम्परा से चलता रहा । आगे चलकर संहिता-साहित्य का विकास 'ब्राह्मण आरण्यक -उपनिषद्' आदि के रूप में द्रष्टागोच्रर होता है । इस विकास को भी वैदिकसाहित्य के अन्त भूत हो परिषोषित समझना चाहिए |

इस वैदिक साहित्य की मौखिक परम्परा को लंबी यात्रा में यह स्वाभाविक था कि मूल संहिताओं के उच्चारण में अन्तर अनुभूत किए जाने लगे। इतना हो नही संहितागत मन्त्रों के संकलन-क्रम भी परिवर्तन हो गए, मन्त्र सहिंता में भी वैभिन्न दिखाई पड़ने लगा | इन अंतरों के साथ-साथ पठन पाठन प्रद्धति में भी अंतर अनुभूत हुए। इन सभा समस्याओं के निदान के लिए ही शिक्षो- ग्रन्थों व प्रतिशाख्य ग्रन्थों का प्राकट्य हुआ।

प्रातिशाख्य का स्वरूप

शिक्षा-सिद्धान्तों का सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक ढंग से विवेचन करने वाले जिन ग्रन्थों का प्रणनयनतकिर्क - आचार्यों ने क्रिया वे 'प्रातिशाख्य" कहलाए | जब भारत की तत्कालीन जन-भाषा वैदिक मुहावरों तथा प्राचीन भाषागत विशेषताओं करों छोडकर आगे बढ़ गई, और प्राचीनभाषा से उसमें अन्तर आने लगा, उस समय मूलवैदिक भाषा का शुद्धाच्चारण कष्ट्साध्य होने लगा। उस वैदिक भाषा को "'अन्वध्याय' या 'छान्दस! कहा जाने लगा जो धार्मिक-अनुष्ठानों में प्रयुक्त हुआ करती थीं, सामान्य बोलचाल की भाषा को 'भाषा' शब्द से व्यवहुत किया जाते लगा।

वैदिक मन्त्रों में शुध्दोच्चारण परम्परा को तब तक ठीक ढंग में नहीं रखाजा सकता था जब तक छन्द-स्वर व अन्य उच्चारण सम्बन्धी नियमों का सुव्यवस्थीकरण न किया जाए।[1] जो नियमावली बनाई गईं उसी का सामान्य रुप से नामकरण 'प्रातिशाख्य' हुआ| इनका उद्देश्य विशिष्ट – ध्वनिविषयकसिद्धान्तों का अध्यापन है, उपदेश नहीं। सिद्धान्त व्याख्यान हैं, बहस नहीं।

प्रातिशाख्यों का नामकरण

प्रातिशाख्य का एक प्राचीन नाम 'पार्षद' भी हैं। यास्क ने 'पार्षद' नाम से इन्ही का उल्लसख किया हैँ। "पदकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि"|[2] प्रतिशाख्यों को पाण्डुलिपियों में भी 'पार्षद' नाम से उल्लेख मिलता हैं। कई जगह 'पार्षद प्रातिशाख्य' दोनो नाम भी एक साथ समुपलब्ध होते हैं। प्रत्येक चरण में शाखागत-वैदिक मन्त्रों के उच्चारण-सम्बन्धी वैदिक-वैशिष्टय के विवेचन के लिए परिषदों की स्थापना की गई, इन परिषदों में लिखित ग्रन्थ 'पार्षद' कहलाए। प्रत्येक प्रातिशाख्य का पार्षद कहा जा सकता था लेकिन प्रत्येक पार्षद को

1. ऋग्वेद प्रातिशाख्य 1/1 उवट

प्रातिशाख्य नहीं। क्योंकि परिषदों में अन्य ग्रन्थ भी सूत्रित हुए थे। स्वर व उच्चारण को दृष्टि से अपनी-अपनी शाखा से सम्बन्धित होने के कारण भी प्रातिशाख्य नाम पडा। माधवाचार्य ने निवर्चन किया है:-

प्रातिशाख्यों की उत्पत्ति

कालगत परिवर्तनों के उपरान्त भाषा दो स्वरूपों में प्रतिष्ठित हों गई था 'छान्दास', 'भाषा' । भाषा जममानस के द्वारा बोली जाने वालों थी जबकि धार्मिक-अनुष्ठानों के लिए 'छान्दस' । भिन्न-2 स्थानों पर छन्द व भाषा में भिन्नता दिखाई पड़ने लगी थी | जब यह भाषागत परिवर्तन सहज महसूस किया जाने लगा तो आचार्यों को इस बात को आशंका सताने लगी कि इस तरह तो मूलवैदिक-भाषा का मलस्वरूप विकृत जाएगा, और तथाकथित ज्ञानरशि के लुप्त होने की संभावनाएं भी बढ़ जाएगा। इसी बात को ध्यान मे रखत हुए प्रातिशाख्यग्रस्थ प्रादुर्भत हुए । अपनी-अपनी शाखाओं के मन्त्रों के उच्चारण का स्वरूप स्थिर करने के साथ-साथ अन्य शाखाओं के नियमों का प्रतिपादन, अन्य शाखाओं के उच्चारण पद्धति के प्रति आस्था घोषित करता है | इस प्रकार से नियम बनाकर उन्होंने भावि-विकारों पर भी अंकुश लगाया ताकि वेदार्थ में विसंगतियों से बचा जा सके।

ऋग्वेदीय-प्रातिशाख्य व तद्गत-प्रातिपाद्य विषय

अलग-अलग वेद की जितनी शाखाएँ थी उतने हो प्रातिशाख्य थे या वेद विशेष की शाखा विशेषों के प्रातिशाख्य थे, यह विषय अद्यावधि संदेहास्पद है। यद्यपि प्रतिशाखा का अपना एक स्वतन्त्र प्रातिशाख्य ग्रन्थ रहा होगा यह कहना अत्यन्त कठिन है, फिर भी उपलब्ध प्रातिशाख्यों के अन्दर आये आचार्यों की लम्बी नामावली से यह कथन कहना ज्यादा मुश्किल भी नहीं लगता। इनका सर्वोपरि लक्ष्य मूलसंहिता-पाठ को सुरक्षित करना ही हैं। अपने चरण की शाखाओं कं बाहयस्वरूप की रक्षा के लिए प्रातिशाख्यों में अनेक विधान प्राप्त होते हैं। ये ग्रन्थ अपनी उच्चारण परम्परा सम्बद्ध नियम विवेचन के साथ-साथ अन्य शाखाओं के नियमों का वर्णन भी करते हैं। ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से उच्चारण प्रक्रिय, उन्चारण', स्थान, उच्चारणावयव, मन्त्रोच्चारण की विविध अवस्थाएँ, अक्षर, उसका आधार, ध्वनियों के वर्गोकरण के विभिन्न आधार (स्थान,

2. निरुक्त – 1/15

3. 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' डॉ० ब्रज बिहारी चौबे, पृ० 22

प्राणत्वादि), स्वराधात, शुद्धपाठ के लिए विभिन्न निर्देश, हस्तसंचालन, संधिया, क्रमपाठ, पदपाठ आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषय प्रतिपादित किए गए हैं।

ऋग्वेदप्रातिशाख्य के लेखक आचार्य 'शौनक'! हैं । ऋग्वेद का उपलब्ध यह एकमात्र प्रातिशाख्य है । ऋग्वेद प्रातिशाख्य के उपोद्छात में शौनक ने अपने आपको शौशिरीय शाखानुयायी घोषित किया है । यद्यपि पूरे ग्रन्थ में 'शिशिरि' का कहीं भी नामोल्लेख नहीं मिलता । शाकल शाखा के अन्तर्गत ही शिशिर एक उपशाखा है जो सम्प्रति अनुपलब्ध है

फिर भी ऋग्वेद का यही प्रातिशाख्य स्वीकार्य है भले हो आचार्य शौनक स्वयं कई जगह शाकलशाखासम्बद्ध नियमों से असहमत दिखाई पड़ते हों। प्रस्तुतग्रन्थ में कुल तोन अध्याय हैं । प्रत्येक अध्याय में 6-6 पटल हैं । डॉ. मंगलदेव शास्त्रों जो इस ग्रन्थ को एक काल कौ रचना नहीं मानते । 1-12 पटल मूलग्रन्थ, 13-15 तक परिशिष्ट भाग, 16-18 तक छन्द विवेचन के रूप में हम इस ग्रन्थ का विस्तर पाते हैं |

तृतीय छन्द-विवेचन-भाग प्रतिशाख्य का विषय नहीं है। प्रथम पटल 'संज्ञापरिभाषापटल', द्वितीया पटल - संहिता-पटल ', तृतीय ' स्वरपटल', चतुर्थ 'व्यञ्जन संधिपटल', पंन्रम-नतिभाव पटल ('स/ का 'ष ' मे परिवर्तन), पष्ठ- "वर्णद्वित्त', सप्तम- 'ह्स्व-दिर्घ-प्लुत विवेचन पटल', अष्टम- ह्स्ववर्णों के दीर्घभाव का विवेचन, नवम- 'समासपटल', दशम-एकादश- 'कर्मपाठ सम्बन्धी नियमपटल', द्वादशा- 'नामाख्यातादि-विवेचनपटल', त्रयोदश- 'वर्णाँ की प्रकृति', चतुर्दश- 'वर्णोच्चारणसम्बन्धी दोष विवेचन पटल', पञ्चदश- 'वेद परायणसम्बद्धपटल', षोडश-सप्तदश-अष्टादश- 'वैदिक छन्दविवेचन पटल के रूप में वर्गीकृत हैं।

साम्प्रतिक परिप्रेक्ष्य में ऋग्वेद-प्रातिशाख्य का महत्त्व

"वर्तमान को जड़ अतीत में" यह सर्वसामान्य नियम एतद्सन्दर्भ में भी हमें चरितार्थ लगता हैं जब हम प्रातिशाख्यों के अध्ययनानन्तर साम्प्रतिक-परिप्रेक्ष्य के भाषा विवेचनात्मक सिद्धान्तों का पठन-पाठन करते है। स्वर-निरपेक्ष, व्यञ्जन-सापेक्ष होते हैं इसी प्रातिशाख्यनियम के बल से ही स्वर- व्यञ्जनों का 'स्वतः-उच्चारण' 'साहयेन-उच्चारण' सम्प्रति सिद्धावस्था को प्राप्त करता है । 'स्वर वर्ण', 'व्यंजनवर्णों' की अपेक्षा अधिक मुखर होते हैं। स्वरवर्णों की श्रुतिगोंचरता व्यंजनों की अपेक्षा अधिक दूर तक संभव है । स्वरों का उच्चारण व्यंजनों की अपेक्षा अधिकावधि संभव है ।

व्यंजन वर्णों के उच्चारण में अति-सावधानी बरतने पर भी स्वरों का अत्याल्प उच्चारण हो ही जाया करता हैं | स्वरों के उच्चारणकाल में वृद्धि वक्ता की इच्छा पर निर्भर करती हैं, जबकि व्यंजनों के उच्चारणकाल में वृद्धि संभव नहीं । स्वरव्यंजनों के उच्चारण में स्वर-तन्त्रियों में होने वाले कम्पनों में न्यूनाधिम्य पाया जाता हैं । सभी स्वरवर्ण संघोष जबकि सभी व्यंजन धिक्य नहीं होते, ये बात आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने 'आलिसोग्राफ' आदियन्त्रों के माध्यम से पाई हैं । इसी बात का प्रतिपादन आचार्याँ ने प्रातिशाख्य ग्रन्थों में पहले ही किया था[1]

"द्वि-भाषिया यन्त्र" इसका प्रयोग जब किया जाता है तो प्रातिशाख्योच्चारण नियमावली को अवहेलना नहीं होती। अंग्रेजी-भाषा के हिन्दी-रूपान्तरण में इसका प्रभाव स्वत: अनुभूति का विषय हैं । विभिन्न विश्वविद्यालयों /संस्थानों में भाषा के शुद्धोचारण सीखाने के लिए भाषाशालाओं का निर्माण होता हैं, तत्सन्दर्भ में भी इनकी उपादेयता स्वयं-सिद्ध है । कम्प्यूटर-द्वारा सरकारी या अन्य किसी उद्देश्य से (दिल्ली मैटो आदि) जब किसी सूचनादि की रिकोर्डिंग की जाती हैं तो वहाँ प्रातिशाख्य नियमों का प्रभाव हम महसूस कर सकते हैं । इस प्रकार आधुनिक सन्दर्भ में इनका महत्व अनेकानेक स्थलों पर अनुभूत किया जा सकता है।

भले ही यह प्रातिशाख्य अतिप्राचीन काल की रचना हों, परन्तु साम्प्रतिक सन्दर्भों में भी इसके विचार-विमर्शालोडनोत्पनन नवनीत की ज्योति से देदीप्यमान जगत में तिमिर के छटने से प्रकाशमय स्वरूप की अनुभूति को अतिशयोक्ति नहीं कहंगे ।

1. "प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाग्रन्थों में विहित ध्वनिविज्ञान" डॉ० विश्वनाधथराम वर्मा पृ० 67

संदर्भ ग्रन्थ सूची

ऋक्तन्त्र : एकपरिशीलन": डॉ सुरेश प्रकाश पाण्डेय परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली 1991

“वैदिक व्याकरण": डॉ० सत्यपाल, देववाणी प्रकाशन, दिल्ली 1990

“धातु पाठों में अर्थ निर्देश": डॉ० माया ए० चैनानी, विद्यानिधि प्रकाशन दिल्ली, 1995

“काशकृत्स्न धातुव्याख्यान": सम्पादक – पं०, युधिष्ठिर मीमांसक, भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर।

काशिका (न्यास व्याख्या): सम्पादक - श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती, नरेन्द्र रिसर्च सोसायटी ऑफ राजशाही, बंगाल, 1913-16

“वैदिक साहित्य और संस्कृति": डॉ० बलदेव उपाध्याय, शारदा प्रकाशन मंदिर, कशी 1967

विश्वेश्वरानंद विश्वबंधु संस्कृत एवं भारत-भारती

अनुशीलन संस्थान, पंजाब विश्वविद्यालय

साधु आश्रम होशियारपुर, 146021